06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 152

पृथक उत्तराखंड आंदोलन में महिलाएँ : भागीदारी से हिस्सेदारी तक

संजीव और महिका

भूमिका

वर्ष 1994 उत्तराखंड के पहाड़ों में रहने वाले लोगों के लिए बदलाव की आशाओं से भरा हुआ साल था जिसमें महिलाओं की भूमिका पहले के अन्य आंदोलनों की ही तरह अग्रणी थी (शेखर पाठक 2019)। इस वर्ष उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री, मुलायम सिंह के द्वारा उत्तराखंड के पहाड़ समेत पूरे उत्तर प्रदेश में जाति के आधार पर एक समान ओबीसी आरक्षण लागू करने की घोषणा की गई। इस फैसले के विरोध में उत्तराखंड के पहाड़ों में शुरू हुआ 'ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन' जल्दी ही 'पृथक उत्तराखंड राज्य आन्दोलन' के रूप में परिवर्तित हो गया। इस आंदोलन ने पूरे प्रदेश में लगभग सभी जाति, धर्म, लिंग, और वर्ग विभेदों को समतल करते हुए अंततः वर्ष 2000 में अलग राज्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इस आंदोलन को अलग-अलग नज़रिए से देखा-परखा गया है जिसमें जातिवादी मानसिकता[1], अराजकवादी[2], अलगाववादी[3], पहाड़ी और ग़ैर-पहाड़ी विभेद[4] महिलाओं की भागीदारी[5] आदि महत्त्वपूर्ण है। यह लेख पृथक उत्तराखंड राज्य आंदोलन में महिलाओं की भूमिका और उनकी भागीदारी को देखने का एक प्रयास है। इस हेतु राजनीति की तीन निर्मितियों का सहारा लिया गया है। ये हैं : गांधीवादी विमर्श से उपजी भागीदारी की संकल्पना, आंबेडकरवादी आंदोलन की अवधारणा और वामपंथी हस्तांतरण की राजनीति।

चिपको आंदोलन हो या नशा विरोधी आंदोलन या फिर ओबीसी आरक्षण के विरोध से शुरू होकर उत्तराखंड राज्य की माँग तक का सफ़र करने वाला पृथक उत्तराखंड राज्य आंदोलन,

---

[1] एम्मा मावड़सलेय (1996) : 205-10.

[2] *नैनीताल समाचार*, आनंद बल्लभ उप्रेती : (2007) और राजीव लोचन शाह से बातचीत.

[3] एम्मा मावड़सलेय (1996) : 205-10.

[4] प्रदीप कुमार (2000).

[5] सावित्री कैरा जन्तवाल (2018), महिलाओं की उत्तराखंड राज्य आंदोलन में भूमिका के संबंध में ज़्यादातर शोध जाँच को महिलाओं के त्याग, बलिदान और भागीदारी तक सीमित रखा है. जिन शोधों में महिलाओं का आंदोलन के नेतृत्व में अभाव की ओर ध्यान दिया है, उन्होंने भी इसको समाज की पुरुषवादी संरचना तक सीमित कर दिया है. इस लेख में हम आंदोलन के दौरान महिलाओं की आंदोलन नेतृत्व में हिस्सेदारी के अभाव के लिए राजनैतिक और उत्तराखंड के राजनीतिक संस्कृति के इतिहास के संबंध में आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास करेंगे कि कैसे उत्तराखंड की राजनीति में गांधीवाद का प्रभाव उत्तराखंड राज्य आंदोलन में महिलाओं के इस पक्ष के लिए ज़िम्मेदार है.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 153

पहाड़ की महिलाओं की भागीदारी इन सभी में अतुलनीय है। पर्यावरणविद और कार्यकर्त्ता वंदना शिवा ने चिपको आंदोलन में पहाड़ की महिलाओं की भूमिका को इको-फ़ेमिनिज़्म[6] सबाल्टर्न प्रतिरोध (रामचंद्र गुहा, 2013) का अग्रज तक माना है। क्षेत्र में विभिन्न स्तर पर होने वाली प्रत्यक्ष राजनीति में आज भी महिलाओं की हिस्सेदारी लगभग नगण्य है।[7] प्रश्न उठता है कि पहाड़ों में होने वाले इन आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी हिस्सेदारी में तब्दील क्यूँ नहीं हो पाई? इस आलेख में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि इस आंदोलन में समाज के सबसे निचले पायदान पर बैठी सर्वाधिक भागीदारी करने वाली ग्रामीण महिलाओं की आंदोलन से उत्पन्न आकांक्षाओं, आशाओं, और संभावित संभावनाओं का स्वरूप क्या था? इन संभावनाओं की राजनीति के इस स्वरूप को आंदोलन में भाग लेती हुई महिलाओं की ज़ुबानी, उनके नारे, क़िस्से-कहानियों और आपसी बतकही में किस तरह से विश्लेषित किया जा सकता है?

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही अंग्रेज़ी सरकार द्वारा 'वैज्ञानिक वन प्रबंधन' के नाम पर वनों में रहने वाले स्थायी मूल निवासियों को वन-संसाधनों के ऊपर उनके परंपरागत अधिकारों से वंचित रखने का प्रयास लगातार बढ़ता रहा। वैज्ञानिक वन प्रबंधन के नाम पर पहाड़ों के स्थानीय निवासियों को जंगलों से लकड़ी, घास, फल आदि लाने के अधिकार पर अंकुश लगाने का सिलसिला आज़ादी के बाद भी जारी रहा।[8] वहीं पेड़ काटने वाले निजी दलालों को ठेका देने का सिलसिला भी बढ़ता ही रहा। पेड़ व लकड़ियों का व्यापार करने वाले ज़्यादातर बड़े ठेकेदार मैदानी भू-भागों से संबंध रखते थे। उत्तर प्रदेश सरकार के राजनीतिक और प्रशासनिक ख़ेमे तक कमज़ोर पहुँच के कारण स्थानीय लोगों के लिए इस तरह का ठेका मिलना दुर्लभ था। वर्ष 1974 में चमोली ज़िले में महात्मा गांधी और गांधीवादी राजनीति के इतिहास से प्रभावित कुछ समाजवादियों और गांधीवादियों ने सुंदरलाल बहुगुणा के नेतृत्व में ग्रामीणों के साथ मिलकर बाहरी ठेकेदारों और अधिकारियों के इस गठजोड़ के ख़िलाफ़ चिपको आंदोलन प्रारंभ किया जो आगे चलकर पर्यावरण संरक्षण के लिए देश और विश्व के लिए आदर्श के रूप में उभरकर सामने आया।[9]

'चिपको आंदोलन' (1973-74)[10] के बाद से ही उत्तराखंड की महिलाओं को देश के अन्य भाग की महिलाओं की तुलना में अधिक कर्मठ, ज़िम्मेदार, सबल, सजग, सक्षम,

---

6 वंदना शिवा (2005) : 46.

7 उत्तराखंड विधानसभा में कभी भी पाँच से अधिक महिला विधायक चुनकर नहीं आई हैं जबकि 2014 में टिहरी राजघराने की बहू प्रदेश के इतिहास में पिछले दो लोकसभा चुनाव से एकमात्र महिला सांसद हैं। प्रदेश में महिलाओं को पंचायत या नौकरियों में आरक्षण बिहार जैसे पिछड़े राज्यों के द्वारा आरक्षण दिए जाने के बाद दिया गया है.

8 तरुण जोशी (2017) : 243-50.

9 सुन्दरलाल बहुगुणा (1988) : 6.

10 चिपको आंदोलन, उत्तराखंड के चमोली ज़िले के रैणी गाँव में वर्ष 1973-74 में हुआ था जब गाँव की महिलाएँ पेड़ काटने आए लकड़ी के ठेकेदारों को पेड़ नहीं काटने देने के लिए पेड़ों से चिपक गई थीं. वे पेड़ों से दो दिन तक चिपकी रहीं जब तक कि पेड़ काटने आए ठेकेदार हार मानकर जंगल से चले नहीं गए. कालांतर में ये आंदोलन पूरी दुनिया में पर्यावरण संरक्षण और इको-फ़ेमिनिज़्म के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया.

सशक्त, स्वतंत्र और स्वावलंबी समझा जाने लगा। पारिवारिक ज़िम्मेदारियों, कृषि और स्थानीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बारे में उनका ज्ञान और उसमें उनका योगदान पुरुषों से अधिक प्रबल माना गया। क्या महिलाओं के इन बढ़ते योगदानों और ज़िम्मेदारियों को महिला सशक्तिकरण का प्रतीक माना जा सकता है? या फिर क्या स्थानीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था और पारिवारिक ज़िम्मेदारियों में बढ़ती भूमिका उनकी मजबूरी तो नहीं थी? पहाड़ों से मैदानों की ओर पुरुषों के लगातार बढ़ते पलायन के कारण घर में बची औरतों पर पूरे घर को चलाने और स्थानीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था का बोझ आ जाता था। इसी प्रकार आंदोलनों में प्रदेश की महिलाओं की भागीदारी मात्र को उनकी राजनीतिक सजगता, सबलता, स्वतंत्रता, स्वावलम्बिता, सशक्तता और आत्मनिर्भरता का प्रतीक माना जाना क्या उचित और संतोषप्रद है? क्या यह ज़रूरी नहीं है कि समाज के कमज़ोर वर्गों की राजनीतिक ज़िम्मेदारी और भागीदारी के साथ-साथ राजनीतिक हिस्सेदारी/ प्रतिनिधित्व की तरफ़ भी सजगता को सुनिश्चित किया जाए? आख़िर क्या कारण है कि आज़ादी के बाद उत्तराखंड में होने वाले सभी जनवादी आंदोलन में महिलाओं की सर्वोच्च भागीदारी होने के बावजूद पहाड़ों से एक भी महिला किसी आंदोलन का नेतृत्व या प्रत्यक्ष राजनीति में अपनी राजनीतिक पहचान राष्ट्र या राज्य स्तर पर नहीं बना पाई? इन प्रश्नों के साथ हालाँकि हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए की यह पृथक राज्य आंदोलन का ही परिप्रेक्ष्य था जिससे निकलकर उत्तराखंड में उत्तराखंड महिला मंच जैसे कई स्वायत्त महिला संगठनों का अभ्युदय हुआ, जो आज भी प्रदेश के लगभग हर इलाक़े में अपनी पहचान बनाए रखने में सफल रहे हैं। ग़ौरतलब है कि तक़रीबन इन सभी स्वायत्त संस्थाओं ने प्रारम्भ से ही अपने आप को प्रत्यक्ष चुनावी राजनीति से अलग रखा। ऐसे में किसी राजनीतिक आंदोलन में समाज के किसी एक तबक़े (जैसे महिलाओं) की हिस्सेदारी और चुनावी नेतृत्व में उनकी अनुपस्थिति के क्या मायने हुए? क्या भागीदारी और प्रतिनिधित्व/हिस्सेदारी के बीच की इस खाई को, राजनीति और इसकी सामाजिकता के समीकरण, इनके मध्य की संश्लिष्टता हम कैसे व्याख्यायित करें? भागीदारी और हिस्सेदारी के बीच फ़र्क़ को समझने के लिए बाबा साहब आंबेडकर की तरफ़ हम सहज ही मुड़ जाते हैं।

आंबेडकर भारतीय समाज के शोषित वर्गों के लिए राजनीतिक भागीदारी के साथ उनकी राजनीतिक हिस्सेदारी/प्रतिनिधित्व को आंबेडकर ने न सिर्फ़ सर्वाधिक महत्त्व दिया बल्कि इसके लिए जीवन भर संघर्ष भी किया। आंबेडकर राजनीतिक लोकतंत्र सुनिश्चित करने के लिए सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते रहे और इसके लिए उन्होंने समाज के पिछड़े वर्ग के लिए राजनीति में पृथक निर्वाचन प्रणाली और आरक्षण को अत्यंत ज़रूरी माना। हालाँकि आंबेडकर ने कभी महिलाओं के लिए आरक्षण की माँग नहीं की लेकिन वे एकमात्र चिंतक थे जिन्होंने महिलाओं के अधिकार (हिंदू कोड बिल) के सवाल पर मंत्रिपद से त्यागपत्र दे दिया था। आंबेडकर ने कई मौक़ों पर महिला उत्थान को समाज के उत्थान का पैमाना माना। शायद यही कारण है कि आंबेडकर आंदोलनों में महिलाओं की न सिर्फ़ भागीदारी बल्कि महिलाओं के नेतृत्व में आंदोलन की वकालत करते थे।[11] वहीं स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान

[11] रुनी दत्ता (2019) : 25-32.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 155

महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों के लिए स्वतंत्रता सेनानियों के नेतृत्व में होने वाले लगभग सभी प्रयास महिलाओं के लिए वोट के अधिकार तक सीमित रहे।[12]

दूसरी तरफ़, यद्यपि महात्मा गांधी महिलाओं को प्रत्यक्ष और चुनावी राजनीति में हिस्सा लेने से मना नहीं करते हैं पर 1929 में *यंग इंडिया* के अपने एक लेख में महिलाओं को इस बात के लिए भी सजग कर देते हैं कि महिलाओं का मुख्य काम फ़िलहाल पुरुषों के अत्याचार से लड़ना है। 1930 आते-आते महात्मा गांधी शराब और विदेशी वस्तुओं के विरोध में धरना देने और प्रदर्शन में महिलाओं को शामिल नहीं करने को अपनी भूल मानने लगते हैं। गांधी मानते हैं कि 'ऐसे धरने पूर्णतः महिलाओं के वर्चस्व में शुरू हों और चलें जबकि पुरुष उन्हें इस प्रक्रिया में जितना हो सके मदद करें।'[13] गांधी की यह बात हमें आज़ादी के बाद उत्तराखंड में होने वाले लगभग सभी आंदोलनों में दिखती है जहाँ शराब विरोधी आंदोलनों में महिलाओं की केंद्रीय भूमिका रही।

गांधी, उत्तराखंड, महिला शक्ति और स्वतंत्रता संग्राम

1929 की गर्मियों में महात्मा गांधी कुमाऊँ और गढ़वाल के कुछ हिस्सों का दौरा कर रहे थे। वे उत्तराखंड के जन-मानस को सफल 'कुली-बेगार आंदोलन' के लिए मुबारकबाद देने के साथ-साथ उन मुद्दों और समस्याओं की तरफ़ ध्यान आकर्षित करते मिलते हैं जिनसे उत्तराखंड के लोग उस दौर में जूझ रहे थे। इन मुद्दों में पलायन, शराब, महिलाओं की स्थिति, जातिगत भेदभाव, स्वच्छता, और जर्जर शिक्षा व्यवस्था प्रमुख थे। ये मुद्दे और समस्याएँ आज भी उत्तराखंड और उत्तराखंड में रहने वाले लोगों के लिए ज्वलंत हैं। इन सभी मुद्दों में से गांधी उत्तराखंड में जाति प्रथा और औरतों के साथ भेदभाव के मुद्दों को कहीं अधिक प्रखरता से रखते हैं।

प्रतिरोध की राजनीति में महिलाओं की भूमिका को तरजीह देने के विषय पर रुख करते हुए हम पाते हैं कि उत्तराखंड में कम से कम पिछले पाँच दशकों के दौरान होने वाले विभिन्न आंदोलनों में मातृशक्ति शब्द का इस्तेमाल सभी मंचों के पर्चों-पोस्टरों, घोषणा-पत्रों आदि में बार-बार होता रहा है। मातृशक्ति और महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी 'चिपको आंदोलन' (1970 का दशक), 'नशा नहीं रोज़गार दो आंदोलन' (1980 का दशक) 'पृथक राज्य आंदोलन' (1990 का दशक) के परिप्रेक्ष्य में सहज ही सामने आता है।

आज़ाद भारत के उत्तराखंडी पहाड़ों में गांधीवादी आंदोलन की विरासत सरला बेन, विमला बेन, और मीरा बेन आदि बनीं। इसका एक पक्ष यह भी है कि पहाड़ों में ज़्यादातर पुरुष सेना में नौकरी करते थे या मैदानों (शहरों) में रोज़गार के लिए मौसमी पलायन करते थे जिसके कारण महिलाओं पर पूरा घर और ग्रामीण अर्थव्यवस्था चलाने की ज़िम्मेदारी होती थी। सरला बहन ने इन महिलाओं के साथ कृषि, पशुपालन और स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा पर काम किया जो महात्मा गाँधी की नई तालीम का एक अध्याय भी माना जा सकता है। 1950 और 1960 के दशक में इन प्रशिक्षित महिलाओं ने पहाड़ में जगह-जगह सेवा केंद्र खोला और ख़ासकर नशा के ख़िलाफ़

[12] बसु और राय (1990) : 54-58.

[13] मधु किश्वर (1985) : 1691-1702.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 156

और जंगल बचाने के लिए काम किया, शराब की भट्ठियाँ बंद करवाईं, और आंशिक रूप से शराब पर प्रतिबंध लगवाया जिसके लिए उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा।[14] परन्तु इन महिलाओं ने प्रारम्भ से ही राज्य में होने वाली दलगत-मतगत राजनीति में प्रत्यक्ष भागीदारी से ख़ुद को अलग रखा। गढ़वाल क्षेत्र में सर्वोदय आंदोलन के दौरान अहम भूमिका निभाने वाली विमला बेन, चिपको आंदोलन के नायक गांधीवादी सुंदर लाल बहुगुणा से शादी इसी शर्त पर करती हैं कि वो कॉन्ग्रेस के साथ दलगत राजनीति को पूर्णतः छोड़कर सर्वोदय आंदोलन में सिर्फ़ सेवार्थ भाव से समाज सेवा करेंगे। चाहे वह शराब का मामला हो या दलगत व वोटगत राजनीति से परे रहने की बात हो, सर्वोदय आंदोलन का प्रतिबिम्ब उत्तराखंड में 1970 और 1980 के दशक में उत्तराखंड में होने वाले 'चिपको आंदोलन' और 'नशा नहीं रोज़गार दो आंदोलन' आदि छोटे-बड़े सभी आंदोलनों में दिखता रहा।

उत्तराखंड : आंदोलनों में महिलाओं की हिस्सेदारी का इतिहास

चिपको आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को हर स्तर पर सराहा गया। परंतु जब इस आंदोलन से जुड़े दो सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्तित्व का नाम आता है तो वे दोनों ही पुरुष हैं : सुंदर लाल बहुगुणा और चंडी प्रसाद भट्ट। सुंदर लाल बहुगुणा को पहाड़ों में गांधीवादी सर्वोदय आंदोलन का हिस्सा बनाने वाली उनकी पत्नी विमला बेन का ज़िक्र सिर्फ़ एक पत्नी के रूप में ही सीमित रख कर किया जाता है। ग़ौरतलब है कि 25 मार्च, 1974 के उस प्रसिद्ध दिन जब रेनी गाँव की महिलाएँ पेड़ों को काटने से बचाने के लिए पेड़ों से चिपक जाती हैं उस दिन रेनी गाँव के पुरुष पेड़ काटने के ठेका आवंटन से संबंधित एक विवाद के सिलसिले में स्थानीय प्रशासन के बुलाने पर चमोली शहर गए हुए थे। पुरुषों की अनुपस्थिति में गाँव में बची महिलाओं के पास पेड़ों को बचाने का जब और कोई विकल्प नहीं रहा तो वे उन पेड़ों से तब तक लिपटी रहीं जब तक की दलाल गाँव छोड़ कर चले नहीं गए और गाँव के पुरुष अगले दिन चमोली से गाँव वापस नहीं आ गए। वह विरोधाभास लग सकता है कि पेड़ को दलालों द्वारा काटे जाने से बचाने के लिए पेड़ से लिपटने वाली इन महिलाओं को एक दशक के भीतर ही पेड़ काटने के अधिकार के लिए 'पेड़ काटो आंदोलन' में शामिल होना पड़ा।[15]

वर्ष 1988-1989 के दौरान उत्तराखंड के कई भागों में *उत्तराखंड क्रांति दल* और *उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी* आदि संगठनों द्वारा पेड़ काटने के अधिकार के लिए पूरे प्रदेश में एक सौ से अधिक जगहों पर *पेड़ काटो आंदोलन* चलाया गया। आंदोलनकारियों का मानना था कि वन क्षेत्रों में पेड़ों को काटने पर पूर्णतया प्रतिबंध लगा दिए जाने के कारण क्षेत्र में कई विकास-योजनाओं को नुक़सान हो रहा था और वनों पर स्थानीय लोगों के निर्णय लेने के अधिकार को लगातार ख़त्म किया जा रहा था। दरअसल चिपको आंदोलन उस व्यवस्था के ख़िलाफ़ आंदोलन था जिसमें स्थानीय लोगों को वन संपदाओं के संरक्षित व सतत उपभोग से रोका जा रहा था और वन संपदाओं के उपभोग का एकाधिकार राज्य, उनके

[14] कमला गणेश और उषा ठक्कर (2005) : 141-151.

[15] अजय सिंह रावत (1999) : 176-77.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 157

नौकरशाहों, पूँजीपतियों और ठेकेदारों तक सीमित किया जा रहा था। यह प्रक्रिया औपनिवेशिक काल से ही लगातार जारी था जो आज़ादी के बाद और भी तेज़ हुई। कुछ समय पहले, 1976 में वन पंचायत नियमावली में बदलाव किए गए थे – जिसके तहत स्थानीय वन पंचायत के कई अधिकारों को वन विभाग को स्थानांतरित कर दिया गया था। इसी प्रकार 1980 में पारित नए वन संरक्षण क़ानून के तहत वन संपदाओं पर स्थानीय लोगों के अधिकार को और अधिक संकुचित किया गया था।[16]

दूसरी तरफ़, गाँधी इसी दौरान पूरी दुनिया में बुद्धिजीवियों द्वारा चिपको आंदोलन को पर्यावरण संरक्षण के लिए आदर्श और इस आंदोलन में अहम भूमिका निभाने वाली उत्तराखंड की महिलाओं को महिलावादी पर्यावरण संरक्षक (इको फ़ेमिनिज़म) के आदर्श व प्रेरणास्रोत के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था (वंदना शिवा, 2005)। वैश्विक धरातल पर इस आंदोलन को इस तरह से प्रस्तुत किया गया मानो महिलाएँ अपने महिला होने मात्र से ही जन्मजात प्रकृति संरक्षक होती हैं। लेकिन इसी उत्तराखंड में उन्हीं महिलाओं ने वर्ष 1988 में उत्तराखंड क्रांति दल के नेतृत्व में कुमाऊँ में 'पेड़ काटो आंदोलन' चलाया तो शायद ही किसी ने इसका संज्ञान लिया। ऐसे में, कई लोगों का तो ये भी मानना है कि चिपको आंदोलन के बाद हुए क़ानूनी बदलाव से सशक्तिकरण के विपरीत महिलाओं का असशक्तिकरण ही हुआ (मधु सरीन, 2001)। इसे एक विडम्बना मान सकते हैं कि चिपको जैसे आंदोलन को पर्यावरण की दृष्टि से तो समझा गया पर कभी महिला और उनकी ज़रूरतों की दृष्टि से नहीं समझा गया।

इतिहास की तरफ़ रुख़ करते हम पाते हैं कि चिपको आंदोलन कोई पहला हस्क्षेप नहीं हो कर पूर्ववर्ती आंदोलनों के कड़ी का ही एक हिस्सा था। उत्तराखंड में 1921 में ही इस तरह की घटना घट चुकी थी। अल्मोड़ा ज़िले के सोमेश्वर क्षेत्र में चनोदा गाँव की महिलाओं ने वन क़ानून के ख़िलाफ़ आंदोलन किया और थगलोडी जंगल में आग लगा दी जिसमें स्थानीय महिला दुर्गा देवी और बिशन देवी शाह को गिरफ़्तार भी किया गया (सावित्री कैरा जन्तवाल, 2018)।

दूसरी तरफ़ हमारे सामने नशा विरोधी आंदोलन का उदाहरण है। 1929 में जब गांधी उत्तराखंड का दौरा करते हैं तो उत्तराखंड की कुछ तथाकथित अछूत जातियों की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि वे लोग शराब का सेवन नहीं करते हैं और स्वच्छता का बख़ूबी पालन भी करते हैं। साथ ही वे प्रदेश की महिलाओं से आग्रह भी करते हैं कि वो ऐसे मर्दों के साथ असहयोग करें जो शराब का सेवन करते हों।[17] गाँधीवादी सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं और अन्य लोगों द्वारा प्रदेश के विभिन्न भागों में शराब उत्पादन और बिक्री पर रोक लगाने के लिए हुए इन अनेक आंदोलनों में महिलाओं ने अहम भूमिका निभाई। इन आंदोलनों के कारण उत्तराखंड के कई क्षेत्रों में कई बार शराब के उत्पादन और बिक्री पर रोक लगाई गई पर हर बार नशा युक्त पदार्थों के उपभोग को रोकने का प्रयास विफल रहा।[18]

इस बाबत यह जानना दिलचस्प होगा कि बकौल अंग्रेज़ी अफ़सर हेनरी रैम्ज़ी, उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशक तक उत्तराखंड के पहाड़ों में ग्रामीण लोगों के बीच शराब का सेवन

[16] अजय सिंह रावत (1999) : 176-77.

[17] शेखर पाठक (1985) : 1360-65.

[18] वही.

लगभग नगण्य था (इ. ऐटकिंसन, 1882)। ऐसा माना जाता है कि उत्तराखंड के पहाड़ों में अंग्रेज़ी काल के दौरान हिल-स्टेशन, ग्रीष्मकालीन राजधानी और प्राकृतिक पर्यटन बढ़ने के साथ-साथ शराब प्रचलित होने लगी। आज़ाद भारत में उत्तराखंड के नौजवानों का सेना में नौकरी करने की बढ़ती प्रवृत्ति भी प्रदेश में शराब का चलन और आपूर्ति बढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार मानी जाती है। 1960 का दशक आते-आते विभिन्न प्रकार की सस्ती व कच्ची शराब का भी प्रचलन उत्तराखंड के सुदूर क्षेत्रों में बढ़ने लगा। सरकार ने निजी हाथों में शराब की दुकानों का ठेका देना प्रारंभ कर दिया जिससे इन दुकानों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। शराब पीने वालों की संख्या तो बढ़ी ही।

चिपको आंदोलन के ठीक एक दशक बाद फ़रवरी 1984 में 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी'[19] के नेतृत्व में अल्मोड़ा से शुरू होकर पूरे उत्तराखंड में 'नशा नहीं रोज़गार दो' आंदोलन फैलने लगा। नशा और उसकी ठेकेदारी के सवाल अपने साथ जंगल और खनन में लिप्त मैदानी (देसी) ठेकेदारों की मनमर्ज़ी के मुद्दे को एक साथ ले आया जिससे आंदोलन का स्वरूप और अधिक वृहद होने लगा। जल्दी ही प्रदेश के छात्र, शिक्षक, मज़दूर संघ और कई स्थानीय संस्थाएँ जैसे उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी, जागर, उत्तराखंड छात्र संगठन, और नैनीताल समाचार ने आंदोलन में समग्र रूप से लड़ाई को प्रखरता से आगे बढ़ाया। जिस तरह चिपको आंदोलन के दौरान जंगल और पेड़ों की नीलामी को रोका गया उसी प्रकार महिलाओं द्वारा जगह-जगह शराब के ठेके की नीलामी को बलपूर्वक रोकने का प्रयास किया गया, शराब की दुकानों पर धरने दिए गए और सार्वजनिक तौर पर दुकान में तोड़-फोड़ कर शराब को जलाया गया और शराबियों को 'बिच्छू घास' से दंडित किया गया। महिलाओं की ये गतिविधियाँ पृथक राज्य आंदोलन में भी हुबहू जारी रहीं। नशा विरोधी आंदोलन के दौरान लगाए जाने वाले कई नारे राज्य आंदोलन के दौरान भी जारी रहे। जैसे कि 'शराब नहीं रोज़गार दो, हर हाथ को काम दो' और, 'माँ-बहनों की यही ललकार (पुकार), दारू बंद करे सरकार।'[20]

भागीदारी से प्रतिनिधित्व तक का सफ़र

1990 के दशक की शुरुआत में ही ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन उत्तराखंड में भी तेज़ी से फैले। परंतु, उत्तराखंड में ज़्यादातर जगहों पर यह शांतिपूर्ण रहा और छात्रों तक ही सीमित था। ओबीसी आरक्षण में पिछड़ेपन का आधार जाति के अलावा धर्म, क्षेत्र आदि अन्य पहचान भी हो सकती थी और इसका निर्णय राज्य सरकार के जिम्मे था। उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह (समाजवादी पार्टी) और मायावती (बहुजन समाजवादी पार्टी) की गठबंधन की सरकार ने वर्ष 1994 में उत्तराखंड के पहाड़ समेत पूरे उत्तर प्रदेश में समान रूप से ओबीसी आरक्षण लागू करने की घोषणा की। शीघ्र ही पूरे उत्तराखंड में ख़ासकर छात्रों और कर्मचारियों

[19] 1977 में स्थापित उत्तराखंड छात्र युवा संघर्ष वाहिनी जो आगे चलकर उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी के नाम से जाना गया। यह उत्तराखंडी छात्रों का एक समूह था जिसमें शेखर पाठक, शमशेर सिंह बिष्ट आदि इसके संस्थापक सदस्य थे. ये संस्था उत्तराखंड में वन वाले सभी आंदोलनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा जिसमें राज्य आंदोलन शामिल है.

[20] अनिल स्वामी (श्रीनगर), चंद्रकला बिष्ट (गोपेश्वर), उषा भट्ट (देहरादून) से अक्तूबर-नवम्बर 2020 के दौरान बातचीत का अंश.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 159

की तरफ़ से तीखी प्रतिक्रिया आई। उत्तराखंड में अन्य पिछड़े वर्ग (ओबीसी) की जनसंख्या कुल जनसंख्या का मात्र दो प्रतिशत था इसलिए बहुजन समाज पार्टी (बसपा) और समाजवादी पार्टी (सपा) को छोड़कर प्रदेश की सभी पार्टियों ने प्रदर्शनकारियों का समर्थन किया।

ग्रामीण महिलाओं के लिए ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन में व्यक्तिगत तौर पर प्रत्यक्ष रूप से जुड़ने के लिए कुछ ख़ास नहीं था। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार उत्तराखंड में महिला और पुरुष साक्षरता दर के बीच खाई राजस्थान को छोड़कर पूरे देश में सबसे अधिक थी जबकि उनकी सरकारी नौकरियों में भी भागीदारी न के बराबर थी (जनगणना, 2011)। देहरादून में रहने वाली उत्तराखंड महिला मंच की सदस्य उषा भट्ट का मानना है कि 'इस आंदोलन में महिलाएँ भावनात्मक कारण से शामिल थीं, हमें अपने बच्चों का भविष्य ख़तरे में लगा।' ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी कुछ युवा छात्राओं और उनकी माताओं या पत्नियों की भूमिका तक सीमित थी जो अपने बच्चों के भविष्य में सरकारी नौकरी के संकुचित होते अवसर से चिंतित थे। यह चिंता भी ज़्यादातर उत्तराखंड के शहरी भू-भागों तक सीमित थी क्योंकि ग्रामीण उत्तराखंड में साक्षरता का स्तर बहुत नीचे था। इसके अलावा ग्रामीण परिवेश से उठकर सरकारी नौकरी करने वाले ज़्यादातर उत्तराखंडी युवा सेना के विभिन्न अंगों में नौकरी करते थे जहाँ जाति-धर्म या लिंग के आधार पर कोई आरक्षण लागू नहीं था। गोपेश्वर की चन्द्रकला बिष्ट (आंदोलनकारी और वर्तमान में गोपेश्वर वन पंचायत प्रमुख) बताती हैं कि 'मैं और मेरे साथ की महिलाएँ तो आंदोलन में शराब और वनों पर अधिकार के मुद्दे को लेकर शामिल हुई थीं, और हमारे लिए आरक्षण मुद्दा नहीं था।' पिथौरागढ़ की आंदोलनकारी प्रेमा बाम आज भी आरक्षण को पृथक राज्य आंदोलन का मुद्दा मानने से इंकार करती हैं। जैसे-जैसे ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन, पृथक राज्य आंदोलन में परिवर्तित होने लगा वैसे-वैसे आंदोलन में ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी बढ़ती चली गई। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि पृथक राज्य आंदोलन की प्रमुख माँगों में ज़्यादातर माँगों का सीधा संबंध प्रदेश की महिलाओं ख़ासकर ग्रामीण महिलाओं के दैनिक दिनचर्या और संघर्ष से जुड़ा हुआ था। इनमें प्रमुख था : नशा पर पाबंदी, बच्चों के लिए रोज़गार, पलायन पर अंकुश आदि। जैसे-जैसे ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन आगे बढ़ा वैसे-वैसे आंदोलनकारियों की माँगों की सूची में जंगल, शराब, भ्रष्ट ठेकेदार-नौकरशाहों का गठजोड़, आदि मुद्दे शामिल होते चले गए।

यदि तिथिक्रम से बात की जाए तो हम पाते हैं कि – पृथक उत्तराखंड राज्य की प्राप्ति के लिए सभी संगठनों ने मिलकर आंदोलन चलाने के लिए फ़रवरी 1989 में ही उत्तराखंड संयुक्त संघर्ष समिति का गठन कर लिया था। जुलाई 1994 में शुरू होने वाला ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन अगस्त 1994 आते-आते पृथक राज्य आंदोलन के रूप में परिवर्तित हो गया। आंदोलन के शुरुआती दौर को याद करते हुए पिथौरागढ़ की प्रेमा बाम बताती हैं :

> आंदोलन से पहले से ही मैं अपने गाँव की महिलाओं को गाँव के ही पास खुल रहे शराब भट्ठी के ख़िलाफ़ एकजुट कर रही थी। मैं राजपूत राजसी घराने से थी तो मेरे समाज के लोगों ने मेरा हुक्का पानी बंद कर दिया लेकिन मैं पीछे नहीं हटी, मेरे पति ने इसमें मेरा साथ दिया। धीरे-धीरे

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 160

> हमारा आंदोलन आसपास के गाँव में फैलने लगा। फिर एक दिन काशी सिंह एरी जी हमारे पास आए और उन्होंने मुझे राज्य आंदोलन में शामिल होने को बोला और कहा कि राज्य बनने पर शराब पर प्रतिबंध लगेगा। हमारे पास और भी कई पार्टी और संस्था के लोग आते थे आंदोलन में सहयोग करने के लिए बोलते थे। मुझे इनके बीच कोई अंतर समझ नहीं आता था मुझे तो बस इतना समझ आता था कि अगर हम उनका साथ देंगे तो ये शराब बंद करवाएँगे। हमें तो प्रदर्शन स्थल पर जाने के बाद पता चलता था कि प्रदर्शन किस पार्टी या किस संस्था का है।

वे आगे बताती हैं 'जब मैंने आंदोलन शुरू किया था तो मुझे ये भी नहीं पता था कि राज्य क्या होता है, कौन अधिकारी क्या करता है और हमें किसके पास जाना चाहिए शराब कि दुकान या भट्ठी खुलने से रोकने के लिए, हम सिर्फ़ शराब की दुकान और भट्ठी के आगे जाकर धरना दे देते थे।'

ज़्यादातर पुरुष आंदोलनकारियों, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों का मानना है कि उत्तराखंड राज्य आंदोलन एक अराजक आंदोलन था जिसका ना कोई नेता था और न ही इसमें कोई दूरदर्शिता थी। नैनीताल के राजीव लोचन साह का मानना है कि 'सभी बस भीड़ का हिस्सा थे।' जबकि देहरादून की कमला पंत का मानना है कि 'आंदोलन से कुछ मिला हो या नहीं पर आंदोलन ने उत्तराखंड की महिलाओं का राजनीतिकरण ज़रूर किया, महिलाएँ आंदोलन की प्रक्रिया में अपने राजनीतिक और प्रशासनिक अधिकारों के प्रति सजग होने लगीं।' जैसे प्रेमा बाम और चन्द्रलेखा बिष्ट जैसी ग्रामीण महिलाएँ हैं जो आज प्रदेश में राज्य और राजनीति में प्रखर हिस्सेदारी रखती हैं।

कई दस्तावेज़ों में आंदोलन को स्वतः स्फूर्त आंदोलन कहा जाता रहा है। वहीं प्रगतिशील महिला परिषद, उत्तराखंड महिला मंच और संघर्ष वाहिनी जैसे मंच थे जो आंदोलन की रूपरेखा के साथ नए राज्य की परिकल्पना पर भी विचार-विमर्श करने का लोगों से आग्रह कर रहे थे। उत्तराखंड महिला मंच की सदस्य और आंदोलनकारी गीता ग़ैरोला आज भी मानती हैं कि 'आंदोलन के दौरान राज्य के भावी स्वरूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाना उत्तराखंड राज्य आंदोलन की असफलता का प्रमुख कारण है। हमने राज्य तो बना लिया पर आज पहाड़ों की स्थिति राज्य बनने के पहले से अधिक ख़राब है। राज्य के स्वरूप पर चर्चा करने के लिए उत्तराखंड महिला मंच के ऊपर आंदोलन तोड़ने तक का आरोप लगाया गया पर हम पीछे नहीं हटे।' 1990 के दशक में छपने वाले उत्तराखंड महिला मंच के पर्चों में बार-बार ज़िक्र आये निम्न नारे से नए राज्य से महिला आंदोलनकारियों की आशाओं और उनके सपनों की झलक मिलती है।

कैसा रहेगा राज्य हमारा, सदा यही हम बहस करेंगे
जहाँ सुरक्षित सभी निवासी, जहाँ आत्मसम्मान मिले,
जहाँ ध्वस्त हो सभी माफ़िया, ऐसा उत्तराखंड बने
नए राज्य में नया विचार, ना हो माफ़िया ना भ्रष्टाचार

यहाँ यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि जिस तरह पहाड़ों में आंदोलनों का इतिहास रहा (जिस पर संक्षेप में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं) उसी तरह – पृथक राज्य को

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 161

लेकर उठने वाली आवाज़ का भी उत्तराखंड में अपना एक लंबा इतिहास है।[21] दूसरी तरफ़, भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस औपनिवेशिक काल से ही उत्तराखंड के पहाड़ों को अधिक स्वायत्तता देने का विरोध करती रही थी। आज़ादी के बाद उत्तराखंड के पहाड़ों की सारी स्वायत्तता ख़त्म करके उन्हें उत्तर प्रदेश राज्य का हिस्सा बना दिया गया। लेकिन उत्तराखंड में पृथक राज्य की माँग लगातार उठती ही रही। 1993 में उत्तराखंड को अलग राज्य बनाने के लिए कौशिक आयोग का गठन किया गया और 1994 में उत्तर प्रदेश विधानसभा से पृथक उत्तराखंड राज्य के लिए विधेयक भी पारित हुआ। लेकिन इसी साल पहाड़ों में ओबीसी आरक्षण विरोधी आंदोलन शुरू होने के कारण मुलायम सिंह का बर्ताव उत्तराखंड के लोगों के साथ बदल गया पहले से ही चला आ रहा पहाड़ बनाम मैदान का विभेद और गहरा हो गया।

25 जुलाई, 1994 को पौड़ी शहर में इन्द्रमणि बडोनी ने भूख हड़ताल शुरू किया तो उनकी तीन माँगों में उत्तराखंड के पहाड़ों को ओबीसी पट्टी घोषित करने के साथ-साथ ग्राम सभा का परिसीमन रोकने और सवलंबित हिल कैडर योजना को लागू करना भी शामिल था। दूसरी तरफ़ पौड़ी शहर से तक़रीबन 25 किलोमीटर दूर श्रीनगर स्थित एच.एन. बहुगुणा विश्वविद्यालय के आरक्षण विरोधी छात्र भी बडोनी जी के भूख-हड़ताल में शामिल हो चुके थे। पौड़ी शहर में 7 अगस्त, 1994 की रात में लाठीचार्ज को याद करते हुए अद्वैत बहुगुणा बताते हैं :

> हम 10-12 छात्र पौड़ी कलेक्टर कार्यालय के सामने कृतन-गीत व डफली बजा रहे थे, बडोनी जी वहीं भूख हड़ताल पर बैठे थे। रात के दस बजे के क़रीब सैकड़ों पुलिस वालों ने हमें चारों तरफ़ से घेर लिया, बडोनी जी को उठाकर मेरठ लेकर चले गए और हम छात्रों को पीटने लगे। हम इधर-उधर गली में भागने लगे। उस दौरान भारी संख्या में नीचे वाली पौड़ी गाँव (चुआचा) की महिलाएँ हाथ में दरांती और पत्थर लेकर बाहर निकलीं और पुलिस वालों के ऊपर बरस पड़ीं, यह हमें आज तक समझ में नहीं आया।' 'उन महिलाओं को बस एक ही बात से गुस्सा था कि बच्चों को क्यूँ मार दिया' अगले दिन पूरा दिन पुलिस, छात्रों और महिलाओं के बीच पूरे शहर में झड़प हुई, महिलाओं ने सारे सरकारी दफ़्तरों में तोड़फोड़ मचाया और आगजनी की। ये सिलसिला अगले तीन दिनों तक चलता रहा और कोई 11 तारीख़ को जाकर सभा हो पाई। उसके बाद अलग राज्य के लिए संगठित आंदोलन का प्रारूप बनाया गया।

पृथक राज्य आंदोलन के दौरान खटीमा, मसूरी, नैनीताल, देहरादून, कोटद्वार, और मुज़फ़्फ़रनगर आदि जगहों पर गोली कांड हुए जिसमें कई आंदोलनकारियों को गोली लगी, शहीद हुए, महिलाओं के साथ बलात्कार और छेड़छाड़ हुई। घटना के बाद वहाँ के कमिश्नर ने सार्वजनिक तौर पर यह बयान दिया कि 'औरतें घर से निकलेंगी और गन्ने के खेतों में जाएँगी तो उनके साथ तो ऐसा होगा ही।' मुलायम सिंह ने ख़ुद सितम्बर 1994 में बयान दिया कि उनकी सरकार या राजनीति पहाड़ियों के भरोसे नहीं चल रही है। उत्तर प्रदेश और पहाड़ों के कई भागों में आरक्षण के समर्थन में आंदोलन करने का प्रयास भी किया गया (आनंद बल्लभ उप्रेती,

---
[21] शेखर पाठक (1999) : 893-907.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 162

2007)। इस तरह के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना बयानों ने पहाड़ी अस्मिता और महिला अस्मिता की भावना को और तीव्र किया। पृथक राज्य की माँग को जनता के सामने रामबाण की तरह प्रस्तुत किया जा रहा था। पृथक राज्य को आंदोलनकारी इस तरह प्रस्तुत कर रहे थे मानों पहाड़ियों की सभी समस्याओं जैसे बेरोज़गारी, पलायन, बढ़ती नशाखोरी, शोषक व भ्रष्ट ठेकेदार-नौकरशाही गठजोड़, जंगल-भूमि और लकड़ी माफ़िया के बढ़ते प्रभाव आदि का हल सिर्फ़ पृथक राज्य में निहित हो। पिथौरागढ़ की आंदोलनकारी राधिका शर्मा हमें बताती हैं, 'हमें कुछ और समझ में नहीं आ रहा था, हमारा बस एक ही जुनून था, 'आज दो और अभी उत्तराखंड राज्य दो'। उस दौर में लगने वाले नारों में भी इसकी झलक दिखती है।

आज दो अभी दो उत्तराखंड राज्य दो
जब तक पृथक राज्य न होगा, नशे का प्रतिकार न होगा, पर्वत का उद्धार न होगा, दुष्टों का संहार न होगा

पृथक राज्य आंदोलन का सर्वाधिक प्रत्यक्ष गठजोड़ शराब निषेध आंदोलन के साथ दिखता है जो उपरोक्त नारों में भी साफ़ दिखता है। हमने ऊपर भी उत्तराखंड के पहाड़ों में शराब के प्रचार प्रसार और आज़ादी के बाद से ही शराब के ख़िलाफ़ उठने वाले आंदोलनों के इतिहास का संक्षिप्त खाका प्रस्तुत किया है जहाँ महिलाओं की प्रखर भागीदारी के साथ-साथ शराब और जंगल के मुद्दों व ठेकेदारों और भ्रष्ट राज्य-तंत्र के बीच गठजोड़ दिखता है। ठेकेदारों और सरकारी तंत्र के इस भ्रष्ट गठजोड़ से उत्तराखंड समाज के लगभग सभी तबक़े प्रभावित थे। इन आंदोलनों के दौरान जन मानस के बीच विभिन्न माध्यमों से पहुँचे लगभग सभी पर्चे, पोस्टर, घोषणा पत्रों, आलेखों, नारों आदि में इस भ्रष्ट गठजोड़ का ज़िक्र बार-बार होता है।[22]

जब 1994 में ओबीसी आरक्षण विरोध के सहारे पृथक राज्य आंदोलन को फिर से एक बार नई ऊर्जा मिली तो क्षेत्र की महिलाएँ पृथक उत्तराखंड राज्य में मैदानों से आए शराब और ठेकेदार-नौकरशाही के भ्रष्ट गठजोड़ से मुक्ति का सपना सँजोने लगीं। इस गठजोड़ का ज़िक्र उत्तराखंड महिला मंच के पर्चों-पोस्टर और आंदोलन के दौरान लगाए जाने वाले नारों में भी प्रत्यक्ष रूप से दिखता है।

उत्तराखंड के तीन दलाल; माफ़िया, नेता, यूपी सरकार
उत्तराखंड की जली मशाल, भागे तस्कर भागे दलाल

1990 का दशक आते आते नारों में 'सरकार' शब्द का इस्तेमाल बढ़ने लगा था। सरकार

[22] वर्ष 1994-95 के दौरान उत्तराखंड महिला मंच, प्रगतिशील महिला परिषद, उत्तराखंड क्रांति दल, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया (एम.एल.) द्वारा जारी किए गए पर्चों के साथ साथ उस दौर में छपने वाले स्थानीय अख़बारों (अपना पहाड़, नैनीताल समाचार, योगवाहिनी आदि) में इसका ज़िक्र बार बार होता है. फ़ील्ड विज़िट के दौरान हमने कुमाऊँ के विभिन्न आंदोलनकारियों से मुलाक़ात के दौरान इन दस्तावेज़ों का डिजिटल संग्रह किया था. ऐसे ज़्यादातर दस्तावेज़ सड़ गए हैं या उसके संग्राहकों ने उसे सँजोकर रखने का औचित्य खो दिया है.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 163

का ठेकेदारों *(गुंडों)* के साथ गठजोड़ को उभारा जा रहा था और सरकार पर प्रत्यक्ष रूप से हमले किए जा रहे थे जैसे, 'ये सरकार वो सरकार, दारू वालों की सरकार' और, 'दो बोतल देती सरकार, गुंडे पाते एक हज़ार।'[23]

सितम्बर-अक्तूबर 2020 में पिथौरागढ़ जिले के मुवानी स्थित अमोटी गाँव में घास काट रही कुछ महिलाएँ 1994 का दौर याद करते हुए बताती हैं कि उस दौर में क्षेत्र में आठ रुपये में बिकने वाली पॉलिथीन बंद कच्ची देशी शराब का लोगों ने नाम 'मुलायम शराब' रख दिया था। उस दौरान अगर कोई व्यक्ति शराब पीकर घर या घर से बाहर किसी तरह का कोई दुर्व्यवहार कर रहा होता था तो लोग मुलायम सिंह को उलाहना देते हुए बोलते, 'देखो मुलायम पीकर वो तमाशा कर रहा है' या 'मुलायम पीकर वो अपनी पत्नी को पीट रहा है।' स्थानीय स्तर पर, मैदान से आने वाले शराब ठेकेदारों और उनके द्वारा लाए जाने वाले शराबों की पहचान मुलायम सिंह के साथ जोड़ दी जाती थी। मुलायम सरकार के साथ शराब और शराब के ठेकेदारों के गठजोड़ को उसी तरह प्रस्तुत किया गया जैसे चिपको आंदोलन के दौरान भू-माफ़िया व जंगल माफ़िया का गठजोड़ ने नौकरशाही के साथ जोड़ दिया गया था। जबकि हक़ीक़त में मुलायम सिंह के कार्यकाल से बहुत पूर्व से ही, 1970 के दशक से ही – उत्तराखंड के ग्रामीण भागों में कच्ची देशी शराब और उसके ठेकेदार अपनी पैठ बनाए बैठे थे।

आंदोलन से परे महिलाओं का सवाल

निस्संदेह उत्तराखंड राज्य आंदोलन के दौरान सर्वाधिक भागीदारी महिलाओं की थी। लगभग सभी सभाओं, रैलियों, जन-सम्पर्क अभियानों, भूख हड़ताल, आदि आंदोलन के कार्यक्रमों में महिलाओं की संख्यागत भागीदारी पुरुषों से कहीं अधिक थी। कोई महिलाओं की भागीदारी के आँकड़े को आधे से अधिक मानता है तो कुछ इसे दो तिहाई तक मानते हैं। 07 जून, 1996 के अपने एक पर्चे में *उत्तराखंड महिला मंच, आंदोलन* में अस्सी प्रतिशत महिला भागीदारी का दावा करती है। आंदोलन के चित्रों में महिलाएँ रैलियों और जलसों में सबसे अगली पंक्ति में जबकि पुरुष पिछली पंक्ति में खड़े मिलते हैं। नैनीताल के भुवाली में रहने वाली आंदोलनकारी संतोष जी बताती हैं कि 'महिलाओं को रैलियों में अगली पंक्ति में इसलिए रखा जाता था क्योंकि पुलिस प्रशासन महिलाओं पर लाठीचार्ज या गोली चलाने या किसी प्रकार का दुर्व्यवहार करने से निरंतर बचना चाहता था।' पिथौरागढ़ की राधिका शर्मा समेत अन्य प्रखर महिला आंदोलनकारी बताती हैं कि जब पुलिस उन पर हमला कर देती थी तो पीछे की पंक्ति में खड़े पुरुष आगे आ जाते थे।

हालाँकि आंदोलन के दौरान जेल जाने वालों की संख्या में पुरुषों की भागीदारी महिलाओं से अधिक थी। आंदोलन के दौरान कई ऐसे क़िस्से हैं जिसमें आंदोलन के दौरान गिरफ़्तार की गई महिलाओं को देर शाम या देर रात छोड़ा दिया जाता था पर पुरुषों को नहीं छोड़ा जाता। गिरफ़्तार पुरुष आंदोलनकारियों को थाने से जेल ले जाने से रोकने के लिए भी

[23] उत्तराखंड महिला मंच की पत्रिका *उत्तरा* के विभिन्न अंकों में इन नारों का वर्णन है.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 164

कई बार स्थानीय महिलाएँ सड़क पर उतर सड़कों को जाम कर देती थीं और प्रशासन को उन पुरुष आंदोलनकारियों को छोड़ना पड़ता था। एक और क्षेत्र था इस आंदोलन का जहाँ पुरुषों की भागीदारी महिलाओं से कहीं अधिक थी। आंदोलन में संलग्न ज़्यादातर राजनीतिक पार्टियाँ, संगठन और एकता मंच में महिलाओं की भागीदारी तुलनात्मक रूप से बहुत कम थी। ज़्यादातर महिलाएँ जो इन संगठनों में शामिल थीं उन्हें नेतृत्व विरले ही दिया जाता था। हाँ, बैठकों और पार्टी कार्यक्रमों में महिलाओं की उपस्थिति में बदलाव जरूर आया। नैनीताल की विमला असवाल बताती हैं कि 'पहले कुछ चयनित महिलाएँ ही नागरिक संघर्ष समिति की बैठक में जाती थीं… लेकिन अक्तूबर के बाद जब आंदोलन में कुछ ठहराव आ गया था तो हम सभी महिलाएँ भी बैठक में जाने लगीं।'[24]

इस आलेख के लिए किए गए फ़ील्ड वर्क (सितम्बर-अक्तूबर 2020) के दौरान भिन्न-भिन्न संगठनों से जुड़े आंदोलनकारियों के साथ बातचीत में उन्होंने बताया कि आंदोलन में शामिल महिलाओं की आंदोलन से संबंधित नीतियों और फ़ैसले लेने में हिस्सेदारी कम होना उस दौर में कभी मुद्दा नहीं बना था।[25] उनका मानना है कि चूँकि आंदोलन स्वतः स्फूर्त और केंद्रीय नेतृत्व विहीन था इसलिए हिस्सेदारी का सवाल आंदोलन के दौरान आंदोलनकारी के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था। यहाँ यह जोड़ देना लाज़िमी है कि आंदोलन के दौरान नैनीताल से लेकर दिल्ली तक कई ऐसी घटनाएँ हुई जिसमें प्रतिनिधित्व के मुद्दे पर, यथा मंच पर बैठने और बोलने के लिए लड़ाई झगड़े हुए और माइक की छीना-झपटी भी हुई।[26] प्रतिनिधित्व का सवाल पार्टियों और गुटों के बीच आपसी समन्वय से भी जुड़ा रहा। राज्य प्राप्ति के लिए सभी संगठनों को एक मंच पर लाने के लिए उत्तराखंड संयुक्त संघर्ष समिति का गठन 1989 में ही हो चुका था पर सभी राजनीतिक पार्टियाँ और संगठन अपने-अपने स्तर पर स्वतंत्र रूप से आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। वर्ष 1994 ख़त्म होते-होते संयुक्त संघर्ष समिति के सदस्य संगठनों के बीच मतभेद मुखर रूप से सामने आ चुका था। लेकिन, उनमें से कोई संयुक्त संघर्ष समिति से न तो अलग हुआ और न ही किसी ने उसके क्रियान्वयन पर सवाल उठाया। एकमात्र संस्था जिसने संयुक्त संघर्ष समिति और आंदोलन में शामिल अन्य संगठनों पर भेदभाव का आरोप लगाया उसका नाम था प्रगतिशील महिला परिषद।

प्रगतिशील महिला परिषद वर्ष 1993 से सभी महिला संगठनों और क्षेत्र की महिलाओं से संबंधित समस्याओं को उठाते रहने वाले व्यक्तियों और संगठनों को पृथक राज्य आंदोलन के लिए एकजुट करने का लगातार प्रयास कर रही थी। अंततः फ़रवरी 1994 में प्रगतिशील महिला परिषद का गठन हुआ। इस परिषद का दावा है कि परिषद की महिलाएँ ओबीसी आरक्षण विरोधी और पृथक राज्य आंदोलन प्रारम्भ होने के पहले से ही लगातार ग्रामीण महिलाओं के साथ संपर्क में थीं। उनका ये भी दावा है कि परिषद सदस्यों ने ओबीसी आरक्षण विरोधी

[24] विमला असवाल (2010) : 43-46.

[25] इनमें पिथौरागढ़ के जनार्दन उप्रेती, हल्द्वानी की रेखा जोशी, और असकोट के वीर जंग सिंह पाल प्रमुख हैं.

[26] उत्तरा का लेख जिसमें नैनीताल में भी सुशीला राजवार के हाथ से माइक छीन लिया गया था. दिल्ली में 02 अक्टूबर, 1994 को हुई जनसभा में काशी सिंह ऐरी और इंद्रमणि बडोनी जी को मंच पर चढ़ने नहीं दिया गया, बार बार माइक बंद कर दिया गया, और इस दौरान ऐरी जी का हाथ भी टूट गया था.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 165

आंदोलन को उत्तराखंड राज्य आंदोलन में परिवर्तित करने में अहम भूमिका निभाई थी। लेकिन 27 सितम्बर, 1994 को परिषद द्वारा जारी एक पर्चे में वो सारी पीड़ा सामने दिखती है जिसके अनुसार संयुक्त संघर्ष समिति के सदस्य उनके साथ भेदभाव करते थे। वे लिखते हैं कि 'छात्रों को छोड़कर और कोई भी संगठन एक समग्र आंदोलन के लिए उनके साथ नहीं आता था। परिषद पोस्टर में विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा शराब, जुआ, ठेकेदारों और उत्तराखंड राज्य के स्वरूप के मुद्दों को बढ़ा-चढ़ाकर उठाने के लिए आंदोलन को भटकाने का आरोप लगाते है।'[27] महिलाओं की इस परिषद के बारे में उत्तराखंड की किसी भी राजनीतिक पार्टी या उत्तराखंड संयुक्त संघर्ष समिति के पर्चे-पोस्टर या घोषणापत्रों में कोई ज़िक्र नहीं मिलता है। परिषद ऐसे संगठनों पर राजनीतिक आकांक्षाओं से लबालब दलगत राजनीति में चुनावी लाभ के लिए उत्तराखंड राज्य आंदोलन का इस्तेमाल करने का भी आरोप लगाती है। परिषद का मानना है कि इन संगठनों ने मुज़फ़्फ़रनगर घटना के बाद अगले एक महीने तक लगातार रैलियाँ, राजनीतिक सभाएँ, पद यात्राएँ, धरना प्रदर्शन किए और फिर शांत हो गए परन्तु उन महिलाओं को न्यायिक न्याय दिलाने के लिए कुछ ख़ास प्रयास नहीं किया। ऐसे में प्रदेश के विभिन्न हिस्सों से उमा भट्ट, कमला पंत, गिरजा चौहान, जैसी कुछ प्रखर महिलाओं ने एक बार फिर एक साथ एक मंच पर एकत्रित होने का प्रयास किया, सम्मेलन हुआ और अंततः नवम्बर 1994 में उत्तराखंड महिला मंच का गठन हुआ।

उत्तराखंड महिला मंच के शुरुआती पर्चे पोस्टर और घोषणा-पत्रों में शराब निषेध, ठेकेदार-नौकरशाह गठजोड़ और आंदोलन में एकता बनाए रखने की अपील सबसे ऊपर रहती थी। इनके पर्चों में अलग उत्तराखंड राज्य की माँग से अधिक महत्त्व नवनिर्मित उत्तराखंड के भावी स्वरूप पर ज़ोर दिया जाता था। उत्तराखंड महिला मंच की कमला पंत बताती हैं कि 'वर्ष 1995 में जब केंद्र सरकार के राजेश पायलट ने एक समग्र वार्ता के लिए उत्तराखंड के आंदोलनकारियों को दिल्ली बुलाया तो आठ में से सिर्फ़ एक महिला को जगह दी गई। हमने समग्र वार्ता में कम से कम आधी महिला सदस्य को शामिल करने की माँग की जिसे नहीं माने जाने पर हम वार्ता में शामिल नहीं हुए।' इसी वार्ता में शामिल होने गई गोपेश्वर की चन्द्रलेखा बिष्ट बताती हैं कि 'उत्तराखंड क्रांति दल' के नेता ऐरी जी ने हमें ये बोलकर दिल्ली से वापस भेज दिया था कि ज़्यादा लोग रहेंगे तो काम ख़राब हो जाएगा, और हमें राजेश पायलट से नहीं मिलने दिया गया।' उत्तराखंड पृथक आंदोलन में शामिल लगभग सभी संगठनों और महिला मंच के बीच रिश्तों की खटास कई मौक़ों और मुद्दों पर झलकती रही।

महिला मंच द्वारा आयोजित आंदोलन के दौरान शराब की दुकानों पर दिए जाने वाले धरने और तोड़-फोड़ व लूटपाट के बारे में भी लोगों के बीच कई अफ़वाहें फैलाई गईं। आंदोलनकारी और महिला मंच की सदस्य विमला असवाल बताती हैं कि 'इन अफ़वाहों में से एक प्रमुख अफ़वाह यह थी कि शराब की दुकानों पर दिन भर धरना देने वाली महिलाएँ शाम को दुकान के मालिक से अपने पति के लिए मुफ़्त में शराब लेकर वापस चली जाया

[27] 27 सितम्बर, (1994) को छपा प्रगतिशील महिला परिषद का पर्चा जो नैनीताल की उमा भट्ट के पास संगृहीत है.

करती थीं।[28] पिथौरागढ़ में शराब और पृथक राज्य आंदोलन में अहम भूमिका निभाने वाली प्रेमा बाम बताती हैं कि 'जब दिन भर महिलाएँ शराब की दुकान पर धरना देती थीं तो शाम को पुरुष उन्हें यह बोलकर घर वापस भेज देते थे कि अगले दिन सुबह तक पुरुष लोग धरना देंगे और शराब की दुकान को खुलने नहीं देंगे। ऐसे ही एक धरना के दौरान जब प्रेमा बाम और उनके सह-आंदोलनकारी रात में पुरुषों को शराब की दुकान की चाबी देकर अपने-अपने घर चले गए तो धरना की ज़िम्मेदारी लेने वाले पुरुषों ने शराब दुकान के मालिक से साँठगाँठ करके उनकी दुकान से सारी शराब बाहर निकलवा दिया जबकि आरोप मेरे ऊपर लगा दिया गया कि उन्होंने शराब माफ़िया से पैसे लेकर दुकान की चाबी उन्हें दे दिया था।'[29] आंदोलन में शामिल महिलाओं को बदनाम करने के लिए ऐसी कई अफ़वाहें उड़ाई गईं।

आंदोलन में शामिल लगभग सभी महिलाओं को आंदोलन की ज़िम्मेदारियों के साथ-साथ घर-परिवार की ज़िम्मेदारियों को निभाना पड़ता था। विमला असवाल समेत कई आंदोलनकारी महिला बताती हैं कि सुबह सभी के लिए भोजन बनाकर, बच्चों को स्कूल भेजकर धरने पर पहुँची महिलाओं को शाम को फिर से परिवार के लिए खाना बनाने घर जाना पड़ता था। नैनीताल में रहने वाली उत्तराखंड महिला मंच की संयोजक उमा भट्ट बताती हैं कि 'जब स्कूल और कॉलेज खुल गए और राज्य कर्मचारियों ने हड़ताल वापस ले लिया तो महिलाओं की भागीदारी कम होने लगी क्योंकि स्कूल और दफ़्तर खुल जाने से महिलाओं की घर के अंदर पारिवारिक ज़िम्मेदारी बढ़ गई थी।'

महिला मंच ने वर्ष 1996 में होने वाले लोकसभा चुनाव का विरोध किया और लोगों से यह अपील किया कि जब तक पृथक उत्तराखंड राज्य नहीं बन जाए तब तक उत्तराखंड का जनमानस किसी भी चुनाव में किसी भी तरह की कोई भागीदारी नहीं करे। 1996 के लोकसभा चुनाव में उत्तराखंड क्रांति दल को छोड़कर अन्य सभी राजनीतिक पार्टियाँ चुनाव में हिस्सा लेती हैं जिसे रोकने के लिए उत्तराखंड क्रांति दल और महिला मंच हर संभव प्रयास करती हैं। चुनाव आयोग के कार्यालय पर धरना दिया जाता है, सभी पार्टियों के संभावित प्रत्याशियों को नामांकन करने से रोका जाता है, मतदान केंद्रों पर मतदान रोकने का प्रयास किया जाता है पर उन्हें विशेष सफलता नहीं मिलती है। अगले ही चुनाव (वर्ष 1998) में एकमात्र राजनीतिक पार्टी, उत्तराखंड क्रांति दल जिन्होंने 1996 के चुनाव का विरोध किया था वह भी चुनाव में शामिल हो गया और विरोध करने में महिला मंच अलग-थलग पड़ गई। महिला मंच के कार्यक्रमों, प्रदर्शनों, धरने और माँगों के साथ अन्य संगठन असहयोग का व्यवहार करने लगे जिससे मंच के कार्यक्रमों में लोगों की भागीदारी लगातार घटने लगी। 1990 के दशक के आख़िरी वर्षों में उत्तराखंड महिला मंच के साथ वही हो रहा था जो प्रगतिशील महिला संघ के साथ वर्ष 1994 में हुआ था। उत्तराखंड राज्य बनने के बाद महिला मंच ने लोगों से चुनाव में भागीदारी करने की अपील की लेकिन लोगों से उन

[28] विमला असवाल, *उत्तरा पत्रिका*, जनवरी-मार्च 2011, पृष्ठ संख्या 34-36; और विमला असवाल से नैनीताल में अक्टूबर 2020 में चर्चा का हिस्सा.

[29] 17 अक्टूबर, 2020 को प्रेमा बाम से उनके पैतृक गाँव में हुई बातचीत का अंश.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 167

पार्टियों को अपना वोट देने का आग्रह किया जो ग़ैरसेन को राजधानी बनाने, और शराब बंद करने का वादा करे।[30]

महिलाओं की हिस्सेदारी के सवाल पर उत्तराखंड क्रांति दल के सर्वाधिक प्रचलित नेता काशी सिंह ऐरी बताते हैं कि 'उत्तराखंड महिला मंच के साथियों का योगदान पूरे आंदोलन के दौरान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है लेकिन उनकी माँगें और मुद्दे बहुत ज़्यादा यूटोपियन (काल्पनिक) थे जिसके कारण उनमें आगे चलकर फूट पड़ी और उनकी कई महिला सदस्य अपनी उभरती संभावनाओं से भरी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए भाजपा और कॉन्ग्रेस में चली गईं।'[31] हालाँकि प्रेमा बाम स्वयं किसी राजनीतिक दल में शामिल नहीं हुईं पर अपने बेटे के भाजपा में शामिल होने के फ़ैसले को वाजिब ठहराते हुए कहती हैं, 'मेरी सबसे पहली ज़िम्मेदारी उन महिलाओं के प्रति थी जो मेरे बोलने पर हफ़्तों तक मेरे साथ अपना घर-परिवार छोड़कर गाँव-गाँव प्रचार में घूमती थीं पर आज राज्य बनने के बीस वर्ष बाद भी मैं उनके लिए कुछ नहीं कर पाई। आज मेरा बेटा सरकार में शामिल हुआ है तो कम से कम हम उनमें से कुछ को राज्य आंदोलनकारियों की सूची में शामिल करा पाए, उनके लिए उचित मानदेय, वृद्धा पेंशन, आदि की व्यवस्था कर पा रहे हैं।'

गोपेश्वर की चन्द्रलेखा बिष्ट जी बताती हैं कि प्रदेश में वर्ष 2008 में होने वाले पंचायत चुनाव में चमोली ज़िले से महिला मंच की सदस्य प्रभात रतूड़ी ने ग्राम प्रधान के पद के लिए चुनाव में अपना नामांकन किया लेकिन महिला मंच के दबाव में उन्हें अपना नामांकन वापस लेना पड़ा क्योंकि महिला मंच के राजनीतिक दृष्टिकोण के अनुसार महिला मंच के सदस्यों को दलगत या वोटगत राजनीति में हिस्सा लेने की इजाज़त नहीं थी। महिला मंच के पर्चों में दलगत और चुनावी राजनीति को दलदल वाली गंदी राजनीति मानते हुए हीनता की दृष्टि से देखा जाता था। महिला मंच की कई सदस्य व्यक्तिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षा होने के बावजूद दलगत-चुनावी राजनीति में क़दम नहीं रखती हैं। उनका मानना है कि पूरी ज़िंदगी जिस संगठन (महिला मंच) को दिया उसे वो ज़िंदगी के आख़िरी पड़ाव पर नहीं छोड़ना चाहती हैं। जहाँ एक ओर, इनमें से कुछ सदस्यों को छोड़कर ज़्यादातर सदस्य आज भी 1996 के चुनाव में हिस्सा नहीं लेने के संगठन के फ़ैसले को सबसे बड़ी भूल समझते हैं, वहीं दूसरी ओर, प्रोफ़ेसर उमा भट्ट जैसी प्रभावशाली महिला मंच की सदस्य आज भी अपने फ़ैसले पर अडिग हैं। उमा भट्ट के अनुसार उनका आंदोलन में भागीदारी करने का उद्देश्य राजनीतिक और सामाजिक बदलाव था न कि राजनीतिक हिस्सेदारी। वर्ष 2020 में महिला मंच की अन्य सदस्यों के साथ-साथ चुनाव में भागीदारी को लेकर उमा भट्ट के दृष्टिकोण में भी बहुत बदलाव हुआ है। अब महिला मंच अपने सदस्यों को पंचायत चुनाव लड़ने के लिए न सिर्फ़ प्रोत्साहित करती है बल्कि उन्हें मदद भी करती है। मुंसियारी की आंदोलनकारी और महिला मंच की सदस्य मल्लिका जी का मानना है कि महिलाओं के लिए दलगत-चुनावगत राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लेने के लिए – वर्ष 1996 का दौर उचित नहीं था क्योंकि उस दौर में महिलाएँ

[30] उत्तराखंड महिला मंच के पर्चे जो उमा भट्ट जी के पास संगृहीत हैं, इन पर्चों में वर्ष या तिथि अंकित नहीं है.

[31] अक्टूबर 2020 में काशी सिंह ऐरी के साथ पिथौरागढ़ में हुई बातचीत का अंश.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 168

लोकतांत्रिक प्रक्रिया में चुनाव लड़ने में सक्षम नहीं थीं। पहले उनका राजनीतीकरण होना ज़रूरी था। मल्लिका जी के अनुसार अब समय आ गया है जब कि महिलाएँ पंचायतों और स्थानीय निकाय के चुनाव में हिस्सा लें। मल्लिका जी स्वयं भी दो बार ग्राम प्रधान रह चुकी हैं और अपने सहभागियों को चुनाव लड़ने के लिए प्रेरित करती हैं।

निष्कर्ष

चुनावी राजनीति से अपने आप को अलग रखने के एवज़ में दिए गए उपरोक्त दो तर्कों (उमा भट्ट और मल्लिका) में वंचित समाज के उत्थान हेतु चुनावी राजनीति की भूमिका की दो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को समझने की सम्भावना दिखती है। एक ओर जहाँ सामाजिक बदलाव को चुनावी राजनीति से परे देखने वाली गांधीवादी विचारधारा है जिसके तहत गांधी जी हमेशा से अपने अनुयायियों को दलगत चुनावी राजनीति से अलग होकर (सर्वोदय आंदोलन) समाज और राजनीति में परिवर्तन की लड़ाई में भागीदारी करने की सलाह देते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ वंचित तबक़े का लोकतंत्र की प्रक्रिया में शामिल होने से पहले ज़रूरी बदलाव के लिए राजनीतिक हस्तांतरण वामपंथी विचारधारा (सर्वहारा वर्ग की तानाशाही या क्रांति) है। हालाँकि उत्तराखंड की साम्यवादी पार्टियाँ इस राज्य आंदोलन के दौरान विरले ही महिलाओं की राजनीतिक हस्तांतरण सुनिश्चित करने के लिए कोई प्रयास करती मिलती हैं। भूमि व संसाधन के हस्तांतरण की राजनीति में असीम विश्वास रखने वाले साम्यवादी संगठनों ने पहाड़ी कृषक महिलाओं के लिए भूमि या सम्पत्ति के अधिकार की माँग कभी नहीं की। दूसरी ओर पहाड़ों से पुरुषों के बढ़ते पलायन से ग्रामीण कृषिगत अर्थव्यवस्था का पूरा भार चाहे-अनचाहे वहाँ की महिलाओं को ही ढोना पड़ा। गांधीवादी और साम्यवादी वैचारिकता के बीच संबंध जोड़ते, – हल्द्वानी के आंदोलनकारी और वरिष्ठ पत्रकार व लेखक प्रभात उप्रेती बताते हैं कि उत्तराखंड के ज़्यादातर वामपंथी, ख़ासकर महिला वामपंथी, गांधीवादी वामपंथी हैं।

वंचित समाज के उत्थान के लिए चुनावी राजनीति की महत्त्वपूर्ण भूमिका को समझती एक तीसरी समझ है, जिसे आंबेडकरवाद कहा जा सकता है। समाज के वंचित तबक़ों ख़ासकर दलितों और महिलाओं के उत्थान के संबंध में बाबा साहेब आंबेडकर का मानना था कि बग़ैर दलगत और चुनावगत राजनीति में प्रतिनिधित्व/ हिस्सेदारी के समाज के वंचित तबक़े का उत्थान नहीं हो सकता है। शायद यही कारण था कि बाबा साहब आंबेडकर दलितों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली और आरक्षण की माँग को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।[32] इसके साथ-साथ आंबेडकर लगातार समुदाय, जाति और वर्ग शब्द का इस्तेमाल एक दूसरे के पूरक के रूप में करते हैं और संविधान के आर्टिकल 16(4) में ‘पिछड़ा वर्ग’ शब्द का इस्तेमाल करते हैं न कि ‘पिछड़ी जाति’ का, जिससे कि पिछड़ी जाति समेत महिलाओं व समाज के सभी पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की सम्भावना बनी रहे।[33]

उत्तराखंड महिला मंच का दलगत चुनावी राजनीति से अपने आप को अलग रखने से

[32] फ्रंचेस्का आर जेंसेनिस (2015) : 75-105.

[33] मेरी ई. जॉन (2000) : 3722-3729.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 169

लेकर चुनावी राजनीति की ओर बढ़ते क़दम कहीं न कहीं गांधी जी के राजनीतिक मूल्यों से शुरू होते हुए बाबा साहब आंबेडकर के राजनीतिक मूल्यों की ओर अग्रसर होने का सफ़र है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि उत्तराखंड में समाज के वंचित तबक़े (महिला) के लिए राजनीतिक हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए कभी कोई प्रयास नहीं किया गया। उत्तराखंड में होने वाले सभी आंदोलनों में महिलाओं की सिर्फ़ भागीदारी सुनिश्चित किए जाने का प्रयास किया गया है जिसमें गांधीवादी संस्थाओं और नेताओं ने अहम भूमिका निभाई। आंबेडकर के राजनीतिक मूल्य सभी वंचित समाज के लिए थे जिसमें महिलाएँ शामिल थीं लेकिन उन्हें और उनके राजनीतिक मूल्यों को दलित समाज तक सीमित करने का भरपूर प्रयास किया गया। महिलाओं के उत्थान की लड़ाई में उनके द्वारा दलगत चुनावी राजनीति में हिस्सेदारी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी दलितों के उत्थान में चुनावों और नौकरियों में उनकी हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए उन्हें दिया जाने वाला आरक्षण।

संदर्भ

अजय सिंह रावत (1999), *फ़ॉरेस्ट मैनेजमेंट इन कुमाऊँ हिमालय : स्ट्रगल ऑफ़ द मार्जिनालाइज़्ड पीपल*, इंडस पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली.

आनंद बल्लभ उप्रेती (2007), *उत्तराखंड आंदोलन में गदहों की भूमिका और उनका भविष्य*, पिघलता हिमालय प्रकाशन, नैनीताल.

इ. ऐटकिंसन (1882), द *हिमालयन गज़ेटियर*, वॉल्यूम 3, भाग-2.

एम्मा मावड़सलेय (1996), उत्तराखंड ऐजिटेशन ऐंड अदर बैकवर्ड क्लासेज़, *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, जनवरी 27, अंक. 31, भाग 4. : 205-210.

कमला गणेश और उषा ठक्कर (2005), *कल्चर ऐंड द मेकिंग ऑफ़ आयडेंटिटी इन कंटेम्परेरी इंडिया*, सेज प्रकाशन, दिल्ली.

तरुण जोशी (2017), 'जंगल पंचायत', *पहाड़*, पिथौरागढ़-चंपावत : 343-350.

प्रदीप कुमार (2000), *उत्तराखंड मूवमेंट : कन्स्ट्रक्शन ऑफ़ रीजनल आयडेंटिटी*, कनिष्क पब्लिशर्स, इंडिया.

फ्रंचेस्का आर जेंसेनिस (2015), 'मायर्ड इन रिज़र्वेशन : द पाथ-डिपेंडेंट हिस्ट्री ऑफ़ इलेक्टोरल कोटा इन इंडिया', *द जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, फ़रवरी, अंक 74 : 75-105.

मधु किश्वर (1985), 'गांधी ऑन वीमेन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, अक्टूबर 5, अंक 20 : 1691-1702.

मधु सरीन (2001), 'डिसएम्पावरमेंट इन द नेम ऑफ़ 'पार्टीसिपेट' फ़ॉरेस्ट्री?, विलेज़ फ़ॉरेस्ट जॉइंट मैनेजमेंट इन उत्तराखंड', *फ़ॉरेस्ट, ट्रीज़ ऐंड पीपल*, संख्या 44, अप्रैल.

मेरी. ई. जॉन (2000), 'अल्टरनेटिव मॉडर्निटी? रिज़र्वेशन ऐंड वीमेन मूवमेंट इन ट्वेंटीएथ सेंचुरी इंडिया', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, अक्टूबर 21-नवम्बर 3, 2000, अंक 35 : 3722-3729.

रामचंद्र गुहा (2013), *अनक्वाइट वुड : इकोलॉजिकल चेंज ऐंड पेज़ंट रेज़िस्टेन्स इन हिमालय*, पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

रुनी दत्ता (2019), *इमैन्सिपेटिंग ऐंड स्ट्रेंथनिंग इंडियन वीमेन : ऐन एनालिसिस ऑफ़ बी. आर. आंबेडकर'स कॉन्ट्रिब्यूशन*, कंटेम्परेरी वॉयस ऑफ़ दलित, सेज पब्लिकेशन.

06Sanjiv_Mahika_Layout 1 22-02-2024 15:22 Page 170

वंदना शिवा (2005), *स्टेइंग अलाइव : वीमेन, इकॉलजी ऐंड डेविल*, काली फ़ॉर वीमेन, इंडिया.

विमला असवाल (2010), *उत्तरा पत्रिका*, अक्तूबर-दिसम्बर : 43-46.

विमला असवाल (2011), *उत्तरा पत्रिका*, विमला असवाल से नैनीताल में अक्टूबर 2020 को चर्चा का हिस्सा, जनवरी-मार्च : 34-36.

शेखर पाठक (1985), 'इंटॉक्सिकेशन ऐज सोशल ईविल : एंटी-अल्कोहल मूवमेंट इन उत्तराखंड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 10 अगस्त : 1360-1365.

शेखर पाठक (1999), 'बियॉन्ड ऐन ऑटोनॉमस स्टेट बैकग्राउंड ऐंड प्रिलिमिनरी एनालिसिस ऑफ़ उत्तराखंड मूवमेंट', *प्रोसीडिंग्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री कॉन्ग्रेस*, अंक 60 : 893-907.

शेखर पाठक (2019), *हरी भरी उम्मीद : चिपको आंदोलन और अन्य जंगलात प्रतिरोधी परम्परा*, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

सावित्री कैरा जन्तवाल (1989), 'कुमाऊँ की महिलाओं का राष्ट्र संग्राम तथा स्थानीय जन आंदोलनों में योगदान', अप्रकाशित डी. लिट. शोध, इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल.

सावित्री कैरा जन्तवाल (2018), *स्वातंत्र्योत्तर उत्तराखंड में महिलाओं की भूमिका (उत्तराखंड आंदोलन के विशेष संदर्भ में) कुमाऊँ की महिलाओं का राष्ट्र संग्राम तथा स्थानीय जन आंदोलनों में योगदान*, अप्रकाशित डी. लिट. शोध, इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल.

सुंदरलाल बहुगुणा (जनवरी-फ़रवरी 1988), 'चिपको : द पीपल्'स मूवमेंट विद अ होप फ़ॉर द सर्वाइवल ऑफ़ ह्यूमनकाइंड', आई.एफ़.डी.ए. डोज़ियर, अंक 63 : 6.